श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता त्रयोदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

त्रयोदशोध्याय:

श्रीभगवानुवाच

इदं(म्) शरीरं(ङ्) कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं(म्) प्राहुः(ह), क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ 1॥

श्री भगवान बोले- हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से उनके तत्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं॥

क्षेत्रज्ञं(ञ्) चापि मां(वँ) विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं(यँ), यत्तज्ज्ञानं(म्) मतं(म्) मम ॥ 2॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति और पुरुष का जो तत्व से जानना है, वह ज्ञान है- ऐसा मेरा मत है ।

तत्क्षेत्रं(यँ) यच्च यादृक्च, यद्विकारि यतश्च यत्।

स च यो यत्प्रभावश्च, तत्समासेन मे श्रृणु ॥ 3॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है- वह सब संक्षेप में मुझसे सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं(ञ्), छन्दोभिर्विविधैः(फ्) पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव, हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 4॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेदमन्त्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किए हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है ।

महाभूतान्यहङ्कारो, बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं(ञ्) च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ 5॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ।

इच्छा द्वेषः(स्) सुखं(न्) दुःखं(म्), सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं(म्) समासेन, सविकारमुदाहृतम् ॥ 6॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति इस प्रकार विकारों के सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया ।

अमानित्वमदम्भित्व- महिं(म्)सा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं(म्) शौचं(म्), स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ 7॥

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य-मनहङ्कार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8॥

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः(फ्), पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं(ञ्) च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना ।

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्व-मरतिर्जनसं(म्)सदि ॥ 10॥

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं(न्), तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त- मज्ञानं(यँ) यदतोऽन्यथा ॥ 11॥

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना- यह सब ज्ञान है और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान - ऐसा कहा है ।

ज्ञेयं(यँ) यत्तत्वप्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं(म्) ब्रह्म, न सत्तन्नासदुच्यते ॥ 12॥

जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।

सर्वतः(फ्) पाणिपादं(न्) तत्-सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः(श्) श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ 13॥

वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं(म्), सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं(म्) सर्वभृच्चैव, निर्गुणं(ङ्) गुणभोक्तृ च ॥ 14॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है ।

बहिरन्तश्च भूताना- मचरं(ञ्) चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं(न्), दूरस्थं(ञ्) चान्तिके च तत् ॥ 15॥

वह चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है ।

अविभक्तं(ञ्) च भूतेषु, विभक्तमिव चं स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं(ङ्), ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ 16॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण-पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मारूप से सबको उत्पन्न करने वाला है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्- तमसः(फ्) परमुच्यते ।

ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(ञ्) ज्ञानगम्यं(म्), हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ 17॥

वह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है।

इति क्षेत्रं(न्) तथा ज्ञानं(ञ्), ज्ञेयं(ञ्) चोक्तं(म्) समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय, मद्भावायोपपद्यते ॥ 18॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ।

प्रकृतिं(म्) पुरुषं(ञ्) चैव, विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारां(म्)श्च गुणां(म्)श्चैव, विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ 19॥

प्रकृति और पुरुष- इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः(फ्) प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः(स्) सुखदुःखानां(म्), भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ 20॥

कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तपन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है ।

पुरुषः(फ्) प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं(ङ्) गुणस(ङ्)गोऽस्य, सदसद्योनिजन्मसु ॥ 21॥

प्रकृति में स्थित ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

उपद्रष्टानुमन्ता च, भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो, देहेऽस्मिन्पुरुषः(फ्) परः ॥ 22॥

इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा- ऐसा कहा गया है ।

य एवं(वँ) वेत्ति पुरुषं(म्), प्रकृतिं(ञ्) च गुणैः(स्) सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते ॥ 23॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्व से जानता है , वह सब प्रकार से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे ॥ 24॥

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग द्वारा देखते हैं अर्थात प्राप्त करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः(श्), श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव, मृत्युं(म्) श्रुतिपरायणाः ॥ 25॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात जो मंदबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्व के जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागर को निःसंदेह तर जाते हैं ।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्- सत्त्वं(म्) स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसं(यँ)योगात्-तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ 26॥

हे अर्जुन! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान ।

समं(म्) सर्वेषु भूतेषु, तिष्ठन्तं(म्) परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं(यँ), यः(फ्) पश्यति स पश्यति ॥ 27॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है ।

समं(म्) पश्यन्हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं(न्), ततो याति परां(ङ्) गतिम् ॥ 28॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि, क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः(फ्) पश्यति तथात्मान-मकर्तारं(म्) स पश्यति ॥ 29॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

यदा भूतपृथग्भाव-मेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं(म्), ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ 30॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक-पृथक भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय, न करोति न लिप्यते ॥ 31॥

हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ।

यथा सर्वगतं(म्) सौक्ष्म्या-दाकाशं(न्) नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे, तथात्मा नोपलिप्यते ॥ 32॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता ।

यथा प्रकाशयत्येकः(ख्), कृत्स्नं(लँ) लोकमिमं(म्) रविः ।

क्षेत्रं(ङ्) क्षेत्री तथा कृत्स्नं(म्), प्रकाशयति भारत ॥ 33॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव-मन्तरं(ञ्) ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं(ञ्) च, ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ 34॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्य सहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्व से जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।